

अवधारणाओं की निर्माण प्रक्रिया

□ रिचर्ड आर. स्केम्प

सीखने में पूर्व अनुभवों को नये अनुभवों से जोड़ते हुए अवधारणाएं बनानी होती हैं। अवधारणाओं की निर्माण प्रक्रिया अमूर्तन के आधार पर टिकी है। यह जटिल प्रक्रिया प्रारंभिक स्तर पर भाषा और गणित शिक्षण के विश्लेषण से समझी जा सकती है। रिचर्ड आर. स्केम्प ने अपनी पुस्तक 'दि साइकॉलॉजी ऑफ लर्निंग मेथमेटिक्स' (पेगुइन् बुक्स, 1986) में इस प्रक्रिया का विशद विवेचन किया है। यहां इस पुस्तक से अवधारणाओं की निर्माण प्रक्रिया से संबंधित कुछ अंशों का अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है।

अमूर्तिकरण और वर्गीकरण - अवधारणाओं का बनना

अवधारणा (Concept) शब्द बहुत काम में आता है। पर इसकी परिभाषा देना आसान नहीं है। शायद सीधी परिभाषा दे देना 'अवधारणा' का अर्थ समझाने का सर्वश्रेष्ठ तरीका है भी नहीं। अतः मैं इसको उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करने की कोशिश करूंगा।

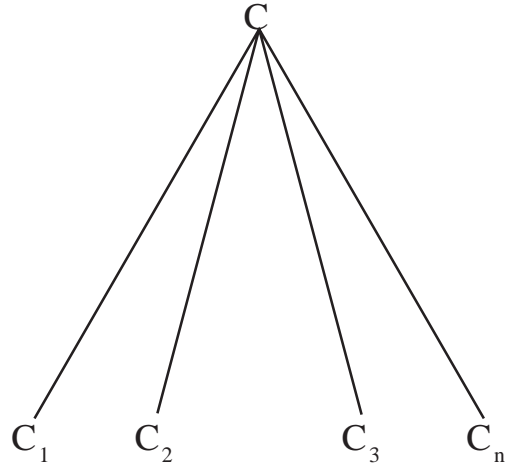
पहले ऐसे दो उदाहरण जो बोलना सीखने से पहले के हैं। लगभग एक वर्ष के बच्चे ने अपनी बोतल से दूध पीना खत्म किया। फिर घुटनों के बल चलने लगा। कमरे में एक तरफ दो खाली शीतल-पेय की बोतलें रखी थीं। बच्चे ने अपनी बोतल भी उनके बराबर करीने से रख दी। दूसरा, एक दो वर्ष के बच्चे ने दूसरे छोटे बच्चे को जमीन पर घुटनों से चलते देखा। देखते ही उसने उसका सिर सहलाना और गर्दन पर थपकी देना शुरू कर दिया। जैसे कुत्तों को पुचकारते हैं। उसने कुत्ते तो कई देखे थे। पर इससे पहले किसी छोटे बच्चे को नहीं देखा था।

इन दोनों उदाहरणों से हम नतीजा निकाल सकते हैं कि : एक, बच्चों ने अपने पूर्व अनुभवों को वर्गीकृत किया है। तथा दो, अपने वर्तमान अनुभवों को पहले बनाये गये वर्गों में से किसी एक में रख रहे हैं।

ये दोनों चीजें (अपने अनुभवों को वर्गीकृत करना और नये अनुभवों को किसी एक वर्ग में रखना) हम लगातार करते रहते हैं। यही तरीका है जिससे हम अपने पूर्वानुभव का अपनी वर्तमान परिस्थिति को समझने में उपयोग करते हैं। हमारी यह गतिविधि इतनी स्वचलित और सतत होती है कि हम ध्यान ही नहीं देते इस पर। ऊपर के उदाहरणों जैसे थोड़ी अटपटी स्थिति बनने पर ही इस तरफ हमारा ध्यान जाता है।

पहले स्तर पर जब हम किसी वस्तु को पहचानते हैं तो उसे पहले देखी हुई वस्तु के रूप में वर्गीकृत करते हैं। (यह वही पेंसिल है जो कल मेरे पास थी।) पर जब हम किसी वस्तु को दो बार

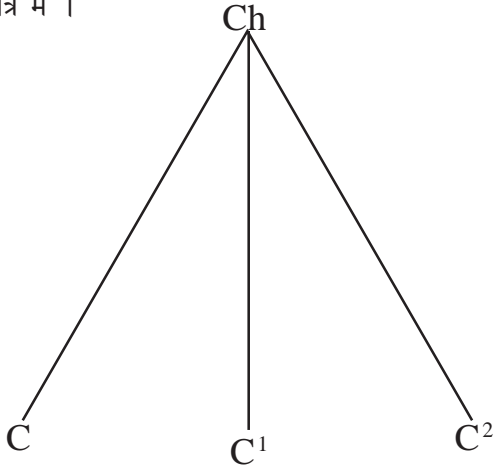
देखते हैं तो उससे हमारी दूरी, देखने का कोण, प्रकाश की स्थिति आदि एक जैसी नहीं होती। अतः उसका हमारी आंख में बनने वाला बिम्ब (इंद्रिय-संप्रेषण) भी पूरी तरह एक जैसा नहीं हो सकता। अर्थात् एक ही वस्तु को बार-बार विभिन्न परिस्थितियों में देखने पर भिन्न-भिन्न बिम्ब हमारी आंख में बनते हैं। इन भिन्न-भिन्न बिम्बों में से हम कुछ अपरिवर्तनीय (समान) गुणों को छांट लेते हैं (अमूर्तिकरण कर लेते हैं)। ये सदा एक से रहने वाले गुण हमारी स्मृति में अधिक टिकाऊ रूप से रहते हैं। किसी वस्तु का परिस्थिति विशेष में बना कोई एक बिम्ब कम टिकाऊ रहता है।



इस चित्र में C_1, C_2, \dots के माध्यम से किसी एक ही वस्तु (मान लीजिए एक कुर्सी) के विभिन्न पूर्व अनुभवों को दर्शाया गया है। इन विभिन्न पूर्व अनुभवों से हम कुछ सामान्य (सब में पाये जाने वाले) गुणों को छांट लेते हैं। C के माध्यम से उन छांटे गये सामान्य गुणों को दर्शाया गया है। इस तरह सामान्य गुणों को अलग छांट लेने को "अमूर्तिकरण" कह सकते हैं। तो हम C_1, C_2, \dots आदि विभिन्न अनुभवों से अमूर्तिकरण C पर पहुंच जाते हैं। एक बार यह अमूर्तिकरण हो जाने पर जब हम फिर से उसी कुर्सी को

देखते हैं - अनुभव C_n , तो उसे पहचान लेते हैं। अर्थात् C_n का C_1, C_2, \dots आदि के साथ अनुभव करते हैं। इस तरह C_n और C_1, C_2, \dots आदि में समानता देख पाते हैं। साथ ही C_n की विशिष्टतायें भी देख पाते हैं, जिस कोण से देख रहे हैं, जितनी दूर से देख रहे हैं, आदि। यह सारी प्रक्रिया एक ही कुर्सी को बार-बार देखने पर बने बिम्बों से उसी कुर्सी की अमूर्त छवि बनाने तक की है। यह पहले स्तर का “अमूर्तन” है।

यहां से हम शीघ्र ही और अधिक अमूर्तिकरण की तरफ बढ़ते हैं। अब हम अलग-अलग कुर्सियां C, C^1, C^2, \dots आदि* को देखते हैं। इससे हम कुछ सामान्य गुण छांट लेते हैं। इन छांटे गये सामान्य गुणों के आधार पर बनी छवि को Ch से दर्शाया है, नीचे चित्र में।



अब जब हम कोई कुर्सी देखते हैं तो उसे इसी वर्ग में रख देते हैं - इन्हीं सामान्य गुणों के आधार पर। अर्थात् उस नई कुर्सी में भी वे सामान्य गुण देखते हैं जिनसे हमने Ch छवि बनाई है। यह दूसरे स्तर का “अमूर्तन” है। यह पहले स्तर के “अमूर्तनों” C, C^1, C^2, \dots आदि के आधार पर (उनमें कोई सामान्य गुण देख कर) बना है। इसे हम नाम देते हैं “कुर्सी”। सामान्य गुणों के आधार पर “कुर्सी” का अमूर्तिकरण किया है। ये गुण यहां तक आते-आते इन्द्रियगत (परसेप्चुअल) कम और उपयोग सम्मत (फंक्शनल) अधिक होने लगते हैं। अर्थात् महत्वपूर्ण सवाल यह नहीं रहता कि चीज दिखती कैसी है? बल्कि यह हो जाता है कि उसका लोग करते क्या हैं? तो अब ये गुण वस्तु के भौतिक स्वरूप से कम संबंध रखते हैं, उसके उपयोग से अधिक। उदाहरण के लिए: हाल ही में मैंने एक ऐसी वस्तु देखी जो बेंत की बुनी हुई थी।

* ध्यान दें C_1, C_2, \dots आदि एक ही कुर्सी के भिन्न-भिन्न अवसरों पर बने बिम्ब हैं। C, C^1, C^2 आदि अलग - अलग कुर्सियां हैं।

अंडाकार थी। एक रस्सी के सहारे छत से लटक रही थी। मैंने पहले जो चार पाये वाली जमीन पर रखी कुर्सियां देखी थीं उनके साथ इस वस्तु की बहुत ही कम भौतिक समानता थी। पर मैंने देखते ही इसे “कुर्सी” वर्ग के सदस्य के रूप में पहचान लिया।

इस अमूर्तन “कुर्सी” को अब कुछ और अमूर्तनों “मेज”, “सोफा” “आलमारी” आदि से मिला कर एक और अमूर्तिकरण “फर्नीचर” बनाया जा सकता है। यह प्रक्रिया इसी तरह बढ़ती रहती है।

अभी तक की बात को अब साथ बांधने की जरूरत है। “अमूर्तिकरण” एक प्रक्रिया है - छांटने की प्रक्रिया, चुनने की प्रक्रिया - जिससे हम अपने अनुभवों में समानता देख पाते हैं। “वर्गीकरण” से आशय है अपने अनुभवों को समानताओं के आधार पर एक साथ रखना, एकत्रित करना। यहां “अमूर्तन” अमूर्तिकरण की प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप बनी मानसिक छवि को कहा गया है। यह दिमाग में कमोबेश स्थायी परिवर्तन है। अमूर्तन हमें नये अनुभव को पहले से बने वर्गों में रखने की क्षमता देता है। संक्षेप में यह एक सीखी गई चीज है, जो वर्गीकरण की काबिलियत देती है तथा किसी वर्ग विशेष की पहचान बनाने वाला गुण-समूह है। “अमूर्तिकरण” की प्रक्रिया से “अमूर्तन” एक परिणाम के रूप में प्राप्त होता है। इसी को “अवधारणा” कह सकते हैं।

अवधारणाओं का संप्रेषण

भाषा का अवधारणाओं के बनने की प्रक्रिया में बहुत योगदान होता है। किसी अवधारणा के लिए आवश्यक उदाहरणों को उनके नाम लेकर सीखने वाले के दिमाग में ताजा (जागृत) किया जा सकता है। इसी तरह ऐसी चीजों के भी नाम दिये जा सकते हैं जो उदाहरण हो सकते थे पर किसी सामान्य विशेषता की कमी के कारण नहीं हैं। अर्थात् नई अवधारणा बनाने के लिए भाषा के माध्यम से पुरानी अवधारणाओं का सार्थक उपयोग हो सकता है। इस तरह नई अवधारणा बनाने की प्रक्रिया को तेज किया जा सकता है। तो क्या भाषा से अवधारणा का हम सीधा संप्रेषण कर सकते हैं? परिभाषा देकर? गणित में परिभाषा देकर अवधारणा के संप्रेषण की बहुत कोशिश की जाती है। अतः इस विचार की कुछ विवेचना करते हैं। उदाहरणों द्वारा।

हम एक सरल अवधारणा लेते हैं - लाल। कल्पना करें किसी व्यक्ति ने हमसे पूछा कि “लाल क्या होता है?” यह भी कल्पना करें कि यह व्यक्ति जन्मांध था। उसकी दृष्टि अभी आई है, शल्य-क्रिया से आंख का इलाज करने पर। किसी शब्द का

अर्थ वह अवधारणा होती है जो उस शब्द से संबद्ध हो, इंगित होती हो। तो अब हमारा काम है कि उस व्यक्ति की लाल की अवधारणा बनाने में मदद करें। और अवधारणा बनाने पर उसे लाल शब्द के साथ बांध दें।

यह काम हम कई तरह से कर सकते हैं। एक तो हम उसे एक परिभाषा दे सकते हैं : लाल वह रंग है जो हमारी आंखों पर 0.6 माइक्रोन तरंग-लम्बाई वाली प्रकाश किरणों के पड़ने पर हमें दीखता है। क्या इस परिभाषा से उसकी लाल की अवधारणा बन जायेगी? बिल्कुल नहीं बनेगी। लाल की अवधारणा बनाने के लिए यह परिभाषा उसके किसी काम की नहीं है।

दूसरा तरीका यह हो सकता है कि हम उसे विभिन्न उदाहरण दें। “यह लाल किताब है।” “यह लाल दुपट्टा है।”, “इस बंदर का मुंह लाल है।” आदि आदि। इस तरह से हम आशा कर सकते हैं कि थोड़े समय में (पास-पास) हम उसे कई अनुभव ऐसे देंगे जिनमें सामान्य गुण ‘लाल’ रंग की अनुभूति हो। अपेक्षा यह होगी कि वह इन सभी अनुभवों में से सामान्य गुण (लाल) ‘देख’ पायेगा। उसका अमूर्तिकरण कर लेगा। अमूर्तिकरण स्वयं उसे ही करना होगा। हम तो अनुभव ही जुटा पायेंगे। “लाल” नाम का उपयोग यहां एक सहायक के रूप में हुआ है। अवधारणा तो ‘लाल’ के बारंबार अनुभव - चीजें देखने - से बनेगी। यही प्रक्रिया मौन से भी चल सकती है। पर शायद अवधारणा बनने में समय ज्यादा लगे।

अवधारणा के साथ नाम “लाल” भी नहीं जुड़ पायेगा। मान लीजिये अब वह एक सवाल पूछता है, “रंग क्या होता है?” अब हम उसके लिए उदाहरण एकत्रित नहीं कर पायेंगे। क्योंकि रंग के उदाहरण होंगे “लाल, हरा, नीला” आदि। और ये तो स्वयं ही अवधारणायें हैं, वस्तुएं नहीं। अब हम उसकी मदद तभी कर पायेंगे जब उसके दिमाग में ये अवधारणायें पहले से हों। हमारे दिमाग में लाल, हरा, पीला आदि की अवधारणायें होने से काम नहीं चलेगा। ये अवधारणायें उसके दिमाग में होनी चाहियें। तो हम ये शब्द एक साथ बोलकर उसके दिमाग में इन अवधारणाओं को एक साथ जागृत (इनवोक) कर सकते हैं। और इससे आगे अमूर्तिकरण की प्रक्रिया शायद संभव हो सके। पर इसकी कोई गारंटी नहीं हो सकती। इस प्रक्रिया में ‘नाम लेना’ जरूरी हो गया है। बिना नामों के काम नहीं चलेगा। यहां नाम लेना केवल सहायक भर नहीं है। अतः “लाल” की अवधारणा बनाने में नाम लेना केवल सहायक है। पर “रंग” की अवधारणा बनाने में यह जरूरी है।

यहां हम अवधारणाओं के दो प्रकारों को पहचान सकते हैं।

एक तो वे अवधारणायें जो हमारे इन्द्रिय अनुभवों से सीधे बनी हों। जैसे लाल, मोटर कार, भारी, गरम, मीठा, आदि। इन अवधारणाओं को हम पहले दर्जे की अवधारणाएं, प्राथमिक अवधारणाएं या प्रत्यक्ष अवधारणाएं कह सकते हैं। क्योंकि ये प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित हैं। वे अवधारणायें जो अन्य अवधारणाओं के आधार पर बनी हों उन्हें हम दूसरे दर्जे की अवधारणायें या ‘परोक्ष अवधारणायें’ कहेंगे।

यदि एक अवधारणा A किसी दूसरी अवधारणा B का एक उदाहरण हो तो हम कहेंगे कि अवधारणा A की तुलना में B ऊंचे दर्जे की है। (“गाय” “पालतू पशु” का उदाहरण है। अतः “पालतू पशु” “गाय” की तुलना में ऊंचे दर्जे की अवधारणा है।) जो अवधारणा जितने ज्यादा ऊंचे दर्जे की होगी वह प्रत्यक्ष अनुभव से उतनी ही ज्यादा दूर होगी।

गणितीय अवधारणाएं सीखना

हमारा बहुत-सा ज्ञान सीधे अपने परिवेश से सीखा जाता है। इससे संबंधित अवधारणायें भी बहुत अधिक अमूर्त नहीं होतीं। गणित की एक समस्या यह है कि यह बहुत अधिक अमूर्त होता है तथा इसकी सामान्यता का विस्तार बहुत अधिक होता है। यह अमूर्तिकरण और व्यापक सामान्यता गणितज्ञों के कई पीढ़ियों तक इन दिशाओं में काम करने से आई है। आज गणित सीखने वाला मूल अनुभवों से आरंभ करके ही नहीं सीखता बल्कि वह आज के गणित की विकसित व्यवस्थाओं को सीखता है। यह बात एक छात्र के लिए बहुत ही फायदे की हो सकती है। क्योंकि वह सीमित समय में ही कई शताब्दियों की मेहनत से विकसित विचारों को ग्रहण कर सकता है। लेकिन इसमें सीखने वाले के लिए एक खतरा भी है। गणित अपने परिवेश से सीधे नहीं सीखी जा सकती। यह गणित जानने वालों से अपनी स्वयं की चिंतन क्षमता के आधार मात्र पर ही सीखी जा सकती है। सर्वश्रेष्ठ स्थिति में भी वह बात सीखने वालों को दूसरों (शिक्षकों एवं गणित की पुस्तकें लिखने वालों) पर निर्भर बना देती है। और खराब स्थिति में तो वे गणित से भय एवं इसको नापसंद करना भी सीख सकते हैं।

गणित सीखने के मूल सिद्धांत सीधे-सीधे से ही हैं। पर उन्हें जानने की जरूरत सीखने वालों को कम और सिखाने वाले को अधिक है। और हालांकि वे सिद्धांत स्वयं में बहुत सरल हैं पर उन्हें लागू करने के लिए बहुत विचार करने की आवश्यकता होती है। ये दो मूल सिद्धांत निम्न लिखित हैं :

1. सीखने वाले के पास जिस दर्जे की अवधारणायें हों उससे ऊपर के दर्जे की अवधारणायें परिभाषाओं द्वारा नहीं सिखाई

जा सकती। अमूर्तिकरण ही करना पड़ेगा।

2. क्योंकि गणित में अमूर्तिकरण के आधार के रूप में काम आने वाले उदाहरण भी दूसरी अवधारणायें ही होती हैं। अतः यह जरूरी है कि अगले दर्जे की अवधारणा सीखने से पहले उसके लिए आधार बनाने वाली सभी अवधारणायें सीख ली गई हैं।

इनमें से पहला सिद्धांत बहुत सी पाठ्यपुस्तकों द्वारा अनदेखा किया जाता है। लगभग सदा ही नया टोपिक उदाहरणों द्वारा नहीं बल्कि परिभाषाओं द्वारा आरंभ किया जाता है। ये परिभाषायें शिक्षार्थी के लिए अबोधगम्य ही रहती हैं।

अच्छे शिक्षक स्वभावतः ही इन परिभाषाओं के साथ उदाहरण जोड़ देते हैं। इससे बात कुछ सरल हो जाती है। पर नयी अवधारणा बनाने के लिए उपयुक्त उदाहरणों का समूह बनाना कहने में जितना लगता है उससे अधिक कठिन काम है। उदाहरणों में वे (या वह) विशेषतायें तो सामान्य होनी चाहिये जो नयी अवधारणा बनायेंगी। पर और कोई भी विशेषता सभी उदाहरणों में सामान्य नहीं होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में सभी उदाहरणों में वह पहलू तो एक जैसा होना चाहिये जिस पर आगे अमूर्तिकरण होना है। पर उसके अलावा कोई पहलू सामान्य नहीं होना चाहिये।

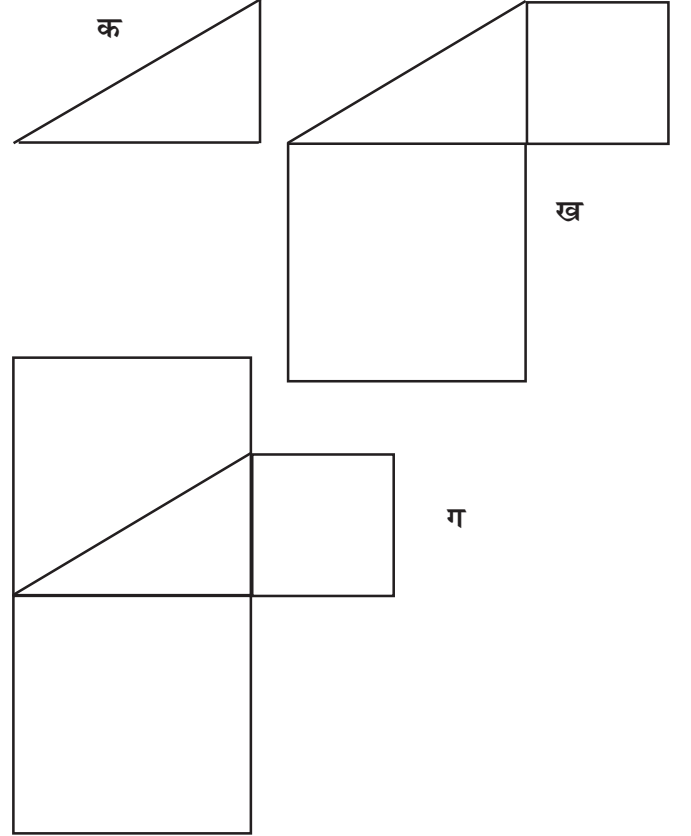
आरंभ में उदाहरण ऐसे होने चाहिये कि नई अवधारणा सरलता से बन जाये। पर इसे दृढ़ एवं परिपक्व करने के लिए जरूरी है कि सीखने वाला अधिक जटिल स्थिति में भी उस अवधारणा को पहचान सके।

अतः उदाहरणों का उचित समुच्चय बनाने के लिए सृजनात्मकता की आवश्यकता होगी। साथ ही जो अवधारणा सिखानी हो उसकी बहुत स्पष्ट समझ भी चाहिये। यह ध्यान देने की बात है कि हमारी कुछ अवधारणायें सहज-अनुभूति के स्तर पर भी हो सकती हैं। इन अवधारणाओं का हम उपयोग तो कर सकते हैं पर संभव है कि सचेत स्तर पर इनका हमें ज्ञान न हो। यह बात कई मूलभूत अवधारणाओं के बारे में सही होती है। इसके कई कारण हो सकते हैं। एक, यह कि हम कई मूलभूत गणितीय विचार बचपन में सीखते हैं। तब हमारे पास उन्हें सचेत स्तर पर विश्लेषित करने की क्षमतायें नहीं होतीं। दूसरा, यह कि कई मूल अवधारणायें बड़ी सूक्ष्म भी होती हैं। ऐसे में सहज-अनुभूति के स्तर वाली अवधारणायें सिखाने में उचित उदाहरण बनाना सरल नहीं होगा।

पर इन कारणों के बिना भी कई बार उदाहरण चुनने में गलतियां हो जाती हैं।

कुछ बच्चे पाइथगोरस प्रमेय सीख रहे थे। उन्होंने बोर्ड से एक समकोण त्रिभुज उतार लिया था अपनी कॉपी में। चित्र क।

अब उनसे सभी भुजाओं पर वर्ग बनाने के लिए कहा गया। यह काम उन्होंने दोनों छोटी भुजाओं के लिए तो आसानी से कर लिया। चित्र ख।



पर कर्ण पर वर्ग बनाने में सबको दिक्कत आई। बहुतों ने यह चित्र ग की तरह बनाया। इससे मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि जिन उदाहरणों से इन बच्चों ने वर्ग की अवधारणा बनाई वे सभी वर्ग कागज पर 'सीधे' बने हुए थे। उनमें कागज पर तिरछे बने वर्गों के उदाहरण नहीं रहे होंगे। कितनी सरलता से शिक्षक छोटी-छोटी बातें भूल सकता है।

दूसरा सिद्धांत कहता है कि अगले दर्जे की अवधारणा सिखाने से पहले उसके लिए सभी आवश्यक अवधारणाएं सीखी हुई होनी चाहियें। यह कहने में तो काफी सरल बात है। पर इस पर अमल करने के लिए यह जरूरी होगा कि सिखाई जाने वाली अवधारणा के लिए आवश्यक (1) अवधारणायें सीख ली हों। फिर इन आवश्यक (1) अवधारणाओं के लिए आवश्यक (2) अवधारणायें भी सीख ली हों। इस तरह हम या तो प्राथमिक अवधारणाओं तक पहुंचें जो सीखने वाले को पता हों। या फिर उन प्राथमिक अनुभवों तक जो उसको प्राप्त हों। ♦